वेदार्थ की मध्यकालीन तथा पाश्चात्य पद्धतियां : एक अध्ययन

डॉ. भवानीलाल भारतीय

स्रोत

'वेदवाणी' मासिक पत्रिका

(वर्ष 51, अंक 1, नवम्बर 1998 ई.)

प्रकाशक

वेदवाणी कार्यालय

बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा) 131021

-: ओ३म् :-

वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष ५१]   वयं जयेम (ऋक्)   [अङ्क १

-: वेदवाणी-स्वर्णजयन्ती :-

वेद-परिशीलन विशेषाङ्क



आद्य सम्पादक— श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु, द्वितीय सम्पादक— श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक

सम्पादक—विजयपाल विद्यावारिधि   सहसम्पादक—प्रदीप कुमार शास्त्री

कार्त्तिक सं० २०५५ वि०

१९७२९४९०९९

वार्षिक मूल्य भारत में	४०.००
,, ,, विदेशों में	१६०.००
आजीवन सदस्यता शुल्क	४००.००
इस अङ्क का	५०.००

वेदवाणी कार्यालय,   दूरभाष—(०१२६४) ८३१३८
बहालगढ़, (सोनीपत-हरयाणा) १३१०२१

वेदार्थ की मध्यकालीन तथा पाश्चात्य पद्धतियां : एक अनुशीलन

[लि०—डा० भवानीलाल भारतीय, ८/४२३ नन्दन वन, जोधपुर]

वेदों को लेकर भारतीय तथा पाश्चात्य विचारों में मौलिक भिन्नता है। भारतीय परम्परा के अनुसार वेद अनादि ईश्वरीय ज्ञान है जिसे सृष्टि के आरम्भ में मानव जाति के हितार्थ पवित्र अन्तःकरणवाले तपःपूत ऋषियों के माध्यम से प्रचारित/प्रेषित किया जाता है जबकि पश्चिमी वेदाभ्यासी विद्वान् उन्हें कालविशेष में पृथक्-पृथक् ऋषियों द्वारा निर्मित मानते हैं। तथापि यह तो वे भी मानते हैं कि ये ग्रन्थ संसार के सर्वाधिक प्राचीन वाङ्मय के रूप में स्वीकार किये जाने के योग्य हैं। मैक्समूलर ने ऋग्वेद को संसार के पुस्तकालय की प्राचीनतम पुस्तक कहा तो मैकडानल के अनुसार ऋग्वेद को भारत-यूरोपीय परिवार की भाषाओं का प्राचीनतम अवशेष मानना सर्वथा उपयुक्त है। वेदों का आविर्भाव काल जितना अनिश्चित है, उतना ही विवाद उस के अर्थ करने की प्रणालियों को लेकर भी है।

यह तो स्पष्ट है कि जिस समय वेदों की मन्त्रराशि मनुष्यों को अधिगत हुई होगी उस समय इन मन्त्रों के अर्थों के सहायक व्याकरण, निरुक्तादि वेदाङ्ग तथा अन्य उपाङ्ग तो पृथक विद्यमान थे ही नहीं। तथापि उस समय के वेदाभ्यासियों ने भी वेदमन्त्रों का अर्थ किया ही होगा। निश्चित रूप से तब वेद मन्त्रों के विभिन्न स्थलों का बार-बार विचार करने से ही उन्हें वेदार्थ का रहस्य ज्ञात हुआ होगा। उदाहरणार्थ—ऋग्वेद का प्रथम मण्डल का प्रथम सूक्त अग्नि को समर्पित है। इस सूक्त के नौ मन्त्रों में इस अग्नि को पुरोहित, यज्ञ का देव, ऋत्विक्, होता, रत्नों का धारण करनेवाला, पुष्टिकारक, यशप्रदाता, होता, कविक्रतु, यज्ञों में सुशोभित होनेवाला आदि कहकर सम्बोधित किया गया है। अब यह अग्नि क्या है, इसका वास्तविक रूप जानने के लिये यदि ऋग्वेद के ही कुछ अन्य मन्त्रों पर दृष्टि डालें तो हमें उसके कतिपय विशेषण दृष्टिगोचर होंगे जिससे अग्नि को व्याख्यात करना अधिक सरल हो जायेगा। ऋग्वेद १०।७०।२ में कहा गया है—

आ देवानामग्रयावेह यातु ····· 'दिव्य पदार्थों में से सबसे आगे होनेवाला (जानेवाला) यहां आवे।" ऋग्वेद ६।१६।४८ में आया है—**अग्नि देवासो अग्रियमिन्धते** ··· विद्वान् लोग आगे जाने वाले अग्नि को प्रकाशित करते हैं। उपर्युक्त दोनों मन्त्रांशों में प्रयुक्त 'अग्रयावा' तथा 'अग्रियम्' समानार्थक हैं।

इसी प्रकार '**गार्हपत्येन सन्त्य ऋतुना यज्ञनीरसि**' (ऋ० १।१५।१२) में अग्नि को यज्ञ के नेता, सञ्चालक अथवा यज्ञ में ले जाये जानेवाला 'यज्ञनीः' कहा है। ऋग्वेद (८।६०।२) में '**अच्छा हि त्वा ··ईमहेऽग्नि यज्ञेषु पूर्व्यम्**' कहा गया है जिसका भाव यह है कि यज्ञों में सबसे पूर्व जानेवाले या स्थित किये जानेवाले अग्नि को हम प्राप्त होते हैं। उपर्युक्त मन्त्रों से अग्नि के विषय में जो कुछ कहा गया उसी से कालान्तर में उसकी जो व्युत्पत्ति यास्क द्वारा दी गई, उसकी पुष्टि हो जाती है। विभिन्न मन्त्रों में आये अग्रयावा, अग्रियम्, यज्ञनीः, यज्ञेषुपूर्व्यम्, पुरोनीयते (ऋ० १।१६३।१२)

आदि संकेतों ने आगे चल कर निरुक्तकार को 'अग्निः कस्मादग्रणीर्भवत्यग्रं यज्ञेषु प्रणीयते' (७।१४) इस प्रकार अग्नि की निरुक्ति बताने की प्रेरणा दी।

यह तो थी वेद में वेदार्थ करने का प्राचीनतम प्रणाली, किन्तु जब लोगों में स्वाध्याय की प्रवृत्ति कम होने लगी और मन्त्रों के चिन्तनमात्र से उनमें निहित अर्थों को जानना उनके लिए सुगम नहीं रहा तो वेदार्थ में सहायक ग्रन्थों की रचना होने लगी। इस क्रम में ब्राह्मण ग्रन्थों का सर्वप्रथम स्थान है। दयानन्द सरस्वती तो ब्राह्मणों को वेदों के व्याख्या-ग्रन्थ ही मानते हैं। उनके अनुसार '**ब्राह्मणानि तु वेदव्याख्यानादेव सन्ति, नैव वेदाःख्यानीति। कुतः ? 'इषेत्वोर्जेत्वेति' इत्यादीनि मन्त्रप्रतीकानि धृत्वा ब्राह्मणेषु वेदानां व्याख्यानकरणात्।**' अर्थात् ब्राह्मण-ग्रन्थों की वेदों में गणना नहीं हो सकती क्योंकि यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र की प्रतीक को धर कर इन ग्रन्थों में वेदों की व्याख्या की गई है। यदि हम उक्त मत से शब्दशः सहमत न भी हों तब भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि ये ब्राह्मण-ग्रन्थ वेदार्थ में सहायक हैं। इनके अध्ययन से वेदोक्त आधिदैविक सिद्धान्त, वैदिक यज्ञ एवं कर्मकाण्ड, वैदिक दर्शन, वैदिक समाज-व्यवस्था आदि विषय स्फुट होते हैं तथा वैदिक पदों के नाना अर्थ भी जाने जाते हैं।

कालान्तर में वेदार्थ में अप्रतिम सहायक निघण्टु तथा निरुक्त शास्त्र रचे गये। यों तो यास्कीय निरुक्त में ही आग्रायण, शाकपूणि आदि चौदह निरुक्तकारों के मतों का निर्देश मिलता है जिससे यह सिद्ध होता है कि यास्क से पहले भी नैरुक्त पद्धति की सहायता से वेदों का अध्ययन होता था। यास्कीय निरुक्त वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति के आधार पर उनका अर्थ करने पर जोर देता है। उनके विचार से वैदिक शब्दों के अर्थ उनकी मूल धातुओं के आधार पर किये जाने चाहिए किन्तु जब यह कहा जाता है कि धातुएं भी अनेकार्थक होती हैं, तो इसके समाधान में यास्क का कहना है कि मन्त्रों का अर्थ अलग-अलग न कर प्रकरणानुसार ही करना चाहिए। निरुक्त से यह भी संकेत मिलते हैं कि यास्क के पूर्व तथा उसके काल में नैरुक्त पद्धति से भिन्न वेदार्थ करने की अन्य प्रणालियां भी प्रचलित थीं। यथा—आधिदैवत, अध्यात्म, आख्यानसमय, ऐतिहासिक, नैदान, परिव्राजक, पूर्वयाज्ञिक तथा याज्ञिक। स्वयं यास्क ने सैंकड़ों वेदमन्त्रों का स्वयं अर्थ लिख कर वेदार्थ करने की विधि को सुकर बनाया है तथा परवर्ती भाष्यकारों के लिए उदाहरण पेश किया है।

उपर्युक्त ब्राह्मण तथा निरुक्त आदि ग्रन्थ तो वेदार्थ में प्रत्यक्ष सहायक थे, किन्तु इनके रचना-काल तक पृथक्-पृथक् वेदों के भाष्य लिखने की प्रथा नहीं चली थी। निरुक्त के पश्चात् सर्वाधिक प्राचीन वेदभाष्यकार स्कन्द स्वामी थे जिन्होंने ऋग्वेद के मन्त्रों का क्रमबद्ध अर्थ किया। इनके भाष्य में यत्र-तत्र 'केचित्' तथा 'केचित्तु' आदि शब्द आये हैं जिनसे अनुमित होता है कि उन से पूर्व भी किन्हीं ने वेदों पर भाष्य लिखे थे। पं० भगवद्दत्त के अनुसार ईसा की छठी शती के स्कन्द स्वामी से लेकर १९ वीं शताब्दी के दयानन्द सरस्वती तक ऋग्वेद के सत्रह भाष्यकार (दोनों को मिला कर) हो चुके हैं। इनमें नारायण, उद्गीथ, हस्तामलक, वेंकटमाधव, आनन्दतीर्थ, आत्मा-

नन्द, सायण, रावण आदि प्रमुख हैं। यजुर्वेद के भाष्यकारों में शौनक, हरिस्वामी, उवट, महीधर तथा दयानन्द सरस्वती मुख्य हैं। सायण ने यजुर्वेद को काण्व तथा तैत्तिरीय संहिता पर भाष्य लिखा है। सामवेद के प्राचीन भाष्यकारों में माधव भरत स्वामी तथा सायण के नाम उल्लेखनीय हैं जब कि सायण को छोड़ कर अन्य किसी प्राचीन भाष्यकार ने अथर्ववेद का भाष्य नहीं लिखा। इस प्रकार हम देखते हैं कि चारों वेद संहिताओं पर समग्र तथा व्यवस्थित रीति से भाष्य लिखने का श्रेय विजयनगर के हिन्दू साम्राज्य के प्रधानमन्त्री सायणाचार्य को ही है जिन्होंने हरिहर और बुक्क नामधारी राजाओं के संरक्षण में रहकर वेदभाष्य का बृहत् सारस्वत यज्ञ सम्पन्न किया।

यहां विचार का मुख्य बिन्दु यह है कि वेदों का कथ्य (विवेचनीय विषय) क्या है और मध्यकालीन भाष्यकारों की इसके बारे में क्या धारणा है? देखा जाये तो वेद शब्द ज्ञान का वाचक है अतः वेद नाम से अभिहित होनेवाले इन ग्रन्थों में मानव समाज के लिये उपयोगी विविध विधाओं तथा ज्ञान-विज्ञान का समावेश होना उचित है। इसी तथ्य को दृष्टि में रख कर दयानन्द सरस्वती ने चारों वेदों में क्रमशः विज्ञान, कर्म, उपासना और ज्ञान की उपस्थिति बताई है। इन चारों में भी वे विज्ञान को सर्वप्रमुख स्वीकार करते हैं। विज्ञान से उनका अभिप्राय परमेश्वर से आरम्भ कर तृणपर्यन्त पदार्थों का साक्षात् बोध है। इसमें भी वे ईश्वरानुभव को सर्वोपरि मानते हैं और स्पष्ट कहते हैं—**तत्रापीश्वरानुभवो मुख्योऽस्ति। कुतः अत्रैव सर्वेषां वेदानां तात्पर्यमस्ति। ईश्वरस्य खलु सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यः प्रधानत्वात्।**

किन्तु मध्यकालीन वेद भाष्यकारों की दृष्टि में वेदों का चरम तात्पर्य यज्ञादि कर्मकाण्ड का विधान करना है। वस्तुतः वेदों पर जब मध्यकाल में भाष्यलेखन आरम्भ हुआ था उस समय तक वैदिक (श्रौत) कर्मकाण्ड विस्तार पा चुका था और वैदिकों में यह धारणा बल पकड़ चुकी थी कि वेदमन्त्रों का उद्देश्य नाना कर्मों तथा उनकी पद्धतियों का विवेचन करना ही है। सायण ने चारों वेदों का भाष्य करते समय सर्वप्रथम यजुर्वेद को जो लिया तो उसका कारण भी यही था कि यज्ञ में अध्वर्यु (यजुर्वेदाधारित कर्म करने वाला) का कर्म ही प्रधान होता है इसलिये उसने प्रथम यजुर्वेद की व्याख्या लिखी और तत्पश्चात् होता नामक ऋत्विक् को अभीष्ट ऋग्वेद का भाष्य लिखा—

आध्वर्यवस्य यज्ञेषु प्राधान्याद् व्याकृतः पुरा।
यजुर्वेदोऽथ हौत्रार्थमृग्वेदो व्याकरिष्यते॥

बात यह है कि सायणादि भाष्यकारों की दृष्टि में वेद वे हैं जो इष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट के परिहार के लिए अलौकिक (यज्ञादि) उपायों को बतलाते हैं। यही कारण है कि ये भाष्यकार प्रत्येक मन्त्र का अर्थ निर्देश करने के पहले उस मन्त्र का किसी न किसी यज्ञ-याग में विनियोग बताना नहीं भूलते। यहां मौलिक प्रश्न यह है कि क्या जिस समय इन मन्त्रों की रचना या दर्शन हुआ था उस समय इनके रचयिता (चाहे उसे ईश्वर कहें या भिन्न-भिन्न ऋषि) को यही अभीष्ट था कि प्रत्येक मन्त्र को किसी न किसी यज्ञ-कर्म में विनियुक्त किया जाना आवश्यक है। इसके साथ ही यह प्रश्न भी उत्पन्न होता है कि क्या श्रौत कर्म वेदों के आविर्भावकाल से भी पूर्व के हैं, जिन्हें दृष्टिपथ में रखकर ही इन मन्त्रों की रचना हुई थी। हमारे विचार से तो वेदमन्त्रों के आविर्भाव

के पश्चात् ही उन्हें अमुक-अमुक कर्म में विनियुक्त किये जाने का विचार याज्ञिकों के मन में आया। कहने को तो सायण भी वेदों को ब्रह्मकाण्ड (ज्ञान) तथा कर्मकाण्ड में विभक्त करता है—**तस्मिश्च वेदे द्वौ काण्डौ कर्मकाण्डो ब्रह्मकाण्डश्च। बृहदारण्यकाख्यग्रन्थौ ब्रह्मकाण्डस्तद्व्यतिरिक्तं शतपथ-ब्राह्मणं संहिता चेत्यनयोः कर्मकाण्डत्वम्॥**

सायण के मत में शतपथ का अन्त्य भाग बृहदारण्यकोपनिषद् तो वेद का ज्ञानकाण्ड है जब कि शतपथ ब्राह्मण तथा संहिताभाग कर्मकाण्ड का प्रतिपादन करते हैं। हमारे विचार में वेदों में कर्मकाण्ड की स्थिति मानना अथवा उपयुक्त कर्मों में मन्त्रों को विनियुक्त करना तो अनुचित नहीं है किन्तु विनियोग का निर्धारण करते समय यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि युक्तिसिद्ध विनियोग ही स्वीकार्य होगा। उसका वेदानुकूल होना आवश्यक है तथा वह मन्त्रार्थ का अनुसरण भी करता हो। विनियोग की युक्तियुक्तता के बारे में ऐतरेय ब्राह्मण का यह कथन ध्यान में रखा जाना चाहिये—

एतद् वै यज्ञस्य समृद्धं यद् रूपसमृद्धं यत् कर्म क्रियमाणमृग्भिर्वदति। १।१।४॥

अर्थात् यदि ऐसा मन्त्र बोला जाय जिसमें उस क्रिया का वर्णन हो जो यज्ञ में की जानेवाली हो तो इसको रूपसमृद्धता कहते हैं। मध्यकालीन भाष्यकारों द्वारा प्रत्येक मन्त्र के विनियोग का निश्चित रूप से निर्देश करने तथा सम्पूर्ण वेदों को यज्ञार्थक-कर्मकाण्ड में प्रयोजनीय मान लेने का ही परिणाम हुआ कि नाना प्रकार के पौराणिक कर्मकाण्डों के साथ भी वेदमन्त्रों के विनियोग को अनिवार्यतः नत्थी कर दिया गया। तब **'शन्नो देवीरभिष्टय'** आदि मन्त्र शनैश्चरादि नवग्रहों की पूजा में विनियुक्त होने लगे **'नमस्ते रुद्रमन्यवे'** आदि यजुर्वेद के रुद्रदेवताक मन्त्रों को बोलकर शिव-पिण्डी पर जल चढ़ाया जाने लगा, **'गणानां त्वा गणपतिं हवामहे'** को गणेश पूजा अथवा अश्वमेध प्रकरण में विनियुक्त करने का आग्रह बढ़ा।

जब वेदों का परम प्रतिपाद्य यज्ञों को मान लिया गया तो बौद्धपूर्वकाल में प्रचलित याज्ञिक हिंसा की सिद्धि के लिए भी वेद मन्त्रों की ही तलाश हुई। यज्ञों में पशुहिंसा स्वीकार करने में मध्यकालीन वेदभाष्यकारों को कोई गुरेज नहीं है। इस हिंसाकाण्ड का तो सारा कारोबार ही मन्त्रों के गलत विनियोग पर आधारित है। जब यज्ञ के लिये अजा-शावक को मारने की तैयारी होती है तो यजुर्वेद के **'अनु त्वा माता मन्यतामनु पितानु भ्राता'** (६।९) आदि मन्त्र बोलकर मृत्यु के निकट गये शावक के अज्ञात माता पिता, भाई, सखा आदि से अनुमति लेने का नाटक किया जाता है। इसी प्रकार **'वाचं ते शुन्धामि'** (६।१४) आदि मन्त्र पढ़ कर मृत पशु की वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, नाभि, उपस्थ आदि की शुद्धि की जाती है। वस्तुतः वैदिकी हिंसा में प्रयुक्त मन्त्रों का विनियोग स्वार्थी पुरोहितशाही का नृशंस विधान ही कहा जा सकता है। इसमें उचित-अनुचित, औचित्य-अनौचित्य का विचार कहीं भी दिखाई नहीं देता। ये ऐतरेय ब्राह्मण में कथित रूपसमृद्धि के सिद्धान्त के नितान्त विपरीत हैं।

वेदों के अनादि होने, ईश्वर द्वारा उपदिष्ट होने तथा किसी लौकिक पुरुष द्वारा उत्पन्न न होने के कारण अपौरुषेय होने के विचार को सभी मध्यकालीन वेदभाष्यकारों ने स्वीकार किया

है। सायण ने ऋग्वेद भाष्य की उपक्रमणिका में 'तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे' (ऋ० १०।९०।९) मन्त्र को उद्धृत कर मन्त्रवर्णित 'सहस्रशीर्षा पुरुष' को परमेश्वर माना है जो यज्ञ विशेषण के कारण पूजनीय है। यही परमेश्वर वेदों का उत्पन्न करनेवाला है। जब वेदों को नित्य परमात्मा की नित्य वाणी मान लिया जाता है तो उसमें किसी ऋषि, राजा, नदी, पर्वत अथवा स्थानविशेष के अस्तित्व या उल्लेख को मानना कदापि उचित नहीं है। सायण ने स्वयं तैत्तिरीय संहिता के बबर प्रावाहणिरकामयत (७।१।१०।२) को उद्धृत कर लिखा है कि यहां 'बबर' किसी पुरुष-विशेष को संज्ञा न होकर सामान्य संज्ञा है। इससे बबर नामक अनित्य पुरुष की विवक्षा नहीं है। बबर तो शब्द की अनुकृति का सूचक है इसलिए शब्द करनेवाला वायु ही इस शब्द से अभिप्रेत है। इस प्रकार एक ओर तो सायण तैत्तिरीय शाखा में प्रयुक्त बबर आदि शब्दों को भी नित्य अर्थ में विवक्षित मानते हैं और प्रकारान्तर से वेदों में अनित्य इतिहास की सत्ता को अस्वीकार करते हैं, किन्तु विडम्बना यह है कि मन्त्रों की व्याख्या करते समय वे इस सिद्धान्त को भूल जाते हैं और अपने वेद-भाष्य में राजाओं, ऋषियों और सामान्य मनुष्यों की शतशः कहानियां मन्त्रों के आधार पर वर्णित करने लगते हैं। उनके द्वारा वर्णित ऐसे लौकिक उपाख्यानों में से कुछ इस प्रकार हैं—भावयव्य और रोमशा का संवाद, तुग्र, भुज्यु और अश्विन् देवता का प्रसङ्ग, च्यवन, दधीचि आदि के उल्लेख, विश्पला की टूटी जांघ पर लोहे का पैर लगाना, दिवोदास, नहुष आदि राजाओं के कथानक, पणि द्वारा गायें चुराना, वामनावतार की कथा, शुनःशेप का आख्यान, इन्द्र और वृत्र का युद्ध, शम्बर द्वारा ९९ नगरों को नष्ट करना, विश्वामित्र-नदी संवाद आदि-आदि। मीमांसा के 'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' सूत्र को व्याख्या करते हुए सायण ने यह तो सिद्धान्ततः माना कि वेदों में मानवीय (लौकिक) अनित्य इतिहास को मानना उचित नहीं है, किन्तु मन्त्रों की व्याख्या करते समय सायण के लिए इस सिद्धान्त का निर्वाह करना कठिन हो जाता है और वे एक के बाद एक नाना कथाओं, उपाख्यानों और कल्पनाप्रसूत प्रसङ्गों को मन्त्रों के साथ जोड़ते जाते हैं।

मध्यकालीन वेद-व्याख्याकार वेदों के संहिता भाग तथा ब्राह्मण भाग में कोई अन्तर नहीं कर सके। सायण ने वेद को 'मन्त्रब्राह्मणात्मक' कहा और अपने मत की पुष्टि में आपस्तम्ब के यज्ञ-परिभाषा सूत्र को उद्धृत किया—'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' (आप० परि० ३१) किन्तु इस मत को स्वीकार करते हुए वे निम्न तथ्यों को दृष्टि से ओझल कर जाते हैं—शतपथ आदि ब्राह्मण ग्रन्थ याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों द्वारा प्रणीत हैं जबकि संहिता भाग का कोई लौकिक निर्माता नहीं है। आपस्तम्ब यज्ञ परिभाषा में पठित सूत्र को भी कृष्ण यजुर्वेद के श्रौतसूत्रकारों ने विशेष पारिभाषिक अर्थ में ही पढ़ा है क्योंकि कृष्ण यजुर्वेद (तैत्तिरीय संहिता) में मन्त्र तथा ब्राह्मण भाग का मिश्रण है तथा इस वेद से सम्बन्धित कर्मकाण्ड में मन्त्र तथा ब्राह्मण दोनों को ही वेद नाम से पुकारना उचित है।

मध्यकाल तक आते-आते वेदों का अध्ययन-अध्यापन त्रैवर्णिक द्विजों तक ही सीमित रह गया था। शूद्र तथा स्त्रियों के लिए वेद के पठन-पाठन के अधिकार समाप्त कर दिये गये थे। पुराण, महाभारत आदि ग्रन्थ पढ़ने की ही उन्हें इजाजत थी। इस काल के वेदभाष्य अपने युग की इस स्वीकृत धारणा से बंधे रहे। सायण ने स्पष्ट लिखा है—"स्त्रीशूद्रयोः सत्युपाये बोधावित्वे हेत्वन्तरेण

वेदाधिकारस्य प्रतिबद्धत्वात् । उपनीतस्यैवाध्ययनाधिकारं ब्रुवच्छास्त्रमनुपनीतयोः स्त्रीशूद्रयोर्वेदाध्ययनमनिष्टप्राप्तिहेतुरिति बोधयति ।……अतएवोक्तम्—

स्त्रीशूद्रद्विजबंधूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
इति भारतमाख्यानं मुनिना कृपया कृतम् ॥ (भागवत १।४।२५) इति ।

तस्मादुपनीतैरेव त्रैवर्णिकैर्वेदस्य सम्बन्धः।"

यहां स्त्री और शूद्रों को वेदों में अनधिकारी बताने में सायण का हेतु यह है कि वेद के ज्ञान को आत्मसात् करने का सामर्थ्य होने पर भी इन दो वर्गों को वेद का पठनाधिकार नहीं दिया जा सकता क्योंकि मन्वादि स्मृतिकारों ने यज्ञोपवीतधारी को ही वेदाध्ययन का अधिकारी माना है। उसने भागवत के एक श्लोक को भी प्रमाणरूप से उद्धृत कर कहा कि वेदत्रयी का अधिकार उपर्युक्त दो वर्गों के लिए नहीं है, ऐसा जानकर कृपालु मुनि व्यास ने उनके लिए महाभारत जैसे आख्यान की रचना की है। उपनयन में तो त्रैवर्णिकों का ही अधिकार होता है। अन्ततः कहना पड़ता है कि वेदों के मध्यकालीन भाष्यकार इन ग्रन्थों की मौलिक अवधारणाओं से काफी दूर चले गये थे। वे समकालीन विश्वासों तथा रूढ़ियों से बन्धे होने के कारण वेदार्थ के साथ पूरा न्याय नहीं कर सके।

पाश्चात्य विद्वानों का वेदानुशीलन भारतीय वेद भाष्यकारों जितना पुराना नहीं है। एक दृष्टि से देखें तो वेद तथा वैदिक साहित्य में किया गया इन विद्वानों का पुरुषार्थ प्रशंसनीय है क्यों कि शतशः यूरोपीय, अमेरिकन तथा अन्य देशों के वेदज्ञों ने इस पुरातन साहित्य पर टीका, व्याख्या, विवेचना, अनुवाद, समीक्षा आदि का प्रभूत साहित्य लिखा है। यहां एक बात विचारणीय अवश्य है। क्या पश्चिम के ये विद्वान् वैदिक तथा इतर संस्कृत-साहित्य के गुणों पर मुग्ध होकर ही उसके अध्ययन में प्रवृत्त हुए थे अथवा उनके इस वैदिक अनुशीलन के पीछे कोई अन्य प्रयोजन भी था? निश्चय ही इनमें से कई अंग्रेज लेखक तो यह चाहते थे कि भारत उनके अधीन देश है और वहां उच्च पदों पर शासन करने के लिए जो अंग्रेज युवक जायें उन्हें भारत के धर्म, संस्कृति तथा परम्पराओं का ज्ञान होना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उनका संस्कृतज्ञ होना भी आवश्यक है। प्रो० मोनियर विलियम्स ने अपनी पुस्तक Indian Wisdom की भूमिका में इसी तथ्य को अंकित किया है। वे लिखते हैं—"हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि यह विशाल पूर्वीय (भारतीय) साम्राज्य हमारे शासन में राजनीतिक तथा सामाजिक प्रयोगों का स्थान होने के कारण अथवा अपना व्यापार बढ़ाने, अपने को गर्वान्वित अनुभव करने या अपना सम्मान कराने के प्रयोजन से नहीं सौंपा गया है। अपितु इसलिए कि एक विस्तृत जनसंख्या इसके द्वारा अनुरंजित, लाभान्वित एवं उत्थापित की जा सके और ईसाई धर्म के पुनरुद्धारक प्रभाव का इस देश में सर्वत्र प्रसार किया जा सके।"

इसी बात को प्रोफेसर मैक्समूलर ने और अधिक स्पष्ट कर लिखा—"निश्चय ही मैं वेदों के सम्पादनादि का कार्य पूरा कर दूंगा, तथा यह भी निश्चित है कि इस कार्य को देखने के लिए जीवित नहीं रहूंगा, तो भी मेरा ऋग्वेद का यह संस्करण और वेदों का अनुवाद भारत के लाखों

लोगों के भाग्य और आत्माओं के विकास पर प्रभाव डालनेवाला होगा। यह वेद भारतीयों के धर्म का मूल है और इस मूल को दिखा देने से ही उनके विगत तीन हजार वर्षों में प्राप्त ज्ञान को मूलसहित उखाड़ना शक्य हो सकेगा।"

उपर्युक्त तथ्यों की पुष्टि में अन्य प्रमाण भी दिये जा सकते हैं किन्तु उससे लेख के कलेवर को अनावश्यक वृद्धि ही होगी। हां, जर्मन विद्वान् इसके अपवाद अवश्य हैं। उनका भारत की तत्कालीन राजनैतिक स्थिति से कोई लेना-देना नहीं था और न वे साम्राज्यवादी अंग्रेजों की भान्ति भारत के शासन अथवा शोषण में कोई दिलचस्पी ही रखते थे। अतः उन्होंने वेद-विषयक जो भी कार्य किया है उसमें त्रुटियां चाहे रही हों, किन्तु उनकी भावना को पूर्वाग्रह-ग्रस्त नहीं कहा जा सकता। पाश्चात्य विद्वानों ने वेदार्थ को स्फुट करने में जो महनीय और विशद कार्य किया है उसकी संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करना भी शक्य नहीं है, तथापि उन सिद्धान्तों की आलोचना अवश्य की जानी चाहिए जिनसे प्रभावित और अनुप्राणित होकर इन लोगों ने यह ऐतिहासिक सारस्वत यज्ञ रचा था।

सर्वप्रथम तो यह बात स्पष्ट कर दी जानी चाहिए कि पाश्चात्य विद्वानों के लिये वेद वैसे पूज्य, प्रणम्य, आदर्श तथा अनुकरणीय ग्रन्थ नहीं थे जैसे वे आर्य मनीषियों के लिए ईश्वर के अनादि ज्ञान होने के कारण सम्मानार्ह तथा आदरास्पद रहे। आचार्य सायण वेदों को यजनीय, पूजनीय परमात्मा से उत्पन्न मानते हैं तो आचार्य शंकर के अनुसार ऋग्वेदादि शास्त्र दीपक की भान्ति सब पदार्थों का करानेवाले सर्वज्ञ (परमात्मा) के तुल्य हैं। उनसे भी पुराने मन्वादि स्मृतिकारों ने तो वेदों की प्रशंसा में अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा को ही व्यय कर दिया था। किन्तु पाश्चात्य वेदज्ञों की दृष्टि से वेदों का ऐतिहासिक, सामाजिक तथा समाजशास्त्रीय महत्त्व तो स्वीकार किया जा सकता है, इससे आगे जाकर वे इन ग्रन्थों को दिव्य धार्मिक ग्रन्थों का दर्जा देने के लिए कथमपि तैयार नहीं हैं। कारण स्पष्ट है। वे तो यह धारणा बना चुके थे कि वेद उन आर्यों द्वारा रचे गये हैं जो मूलतः मध्य एशिया या यूरोप के किसी स्थान से यायावरों की भांति भटकते हुए सप्तसिंधु देश में चले आये थे। इन वेदों के कुछ सूक्त तो उन्होंने भारत में आने से पहले ही रच लिए थे और कतिपय अन्यों की रचना उन्होंने उत्तर भारत की नदियों के किनारे बैठ कर की, जिसे वे सप्त सिन्धु देश कहते थे। उनके अनुसार वेदों के कुछ सूक्त तो आर्यों की इण्डो-यूरोपियन जीवन-पद्धति के द्योतक हैं जो भारत में स्थायी रूप से उनके बसने के पहले की स्थिति को बताते हैं। यूरोपीय पण्डित यह भी मानते हैं कि इन वेदों को रचना सहस्रों वर्षों की दीर्घावधि में हुई है इसलिये इन कालों के विभिन्न राजाओं, घटनाओं, स्थानों, परिस्थितियों आदि की चर्चा इनमें मिलती है। वे आर्यों के पुरातन इतिहास तथा उनकी सामाजिक स्थिति की जानकारी के लिए वेदों के अध्ययन को उपयोगी तथा आवश्यक समझते हैं।

एक अन्य बात यह भी है कि विगत शताब्दी में चार्ल्स डार्विन ने अपने विकासवाद के सिद्धान्त को प्रचारित कर यह सिद्ध करने की चेष्टा की थी कि मानव जैसे प्राणी को वर्तमानरूप में आने में लक्षावधि वर्ष लगे थे तथा सृष्टि के इस सर्वश्रेष्ठ प्राणी मानव को उसके वर्तमान रूप में आने तथा अपने शारीरिक एवं मानसिक विकास को प्राप्त करने में भी अनेक पड़ाव रहे होंगे।

डार्विन के इस वैज्ञानिक सिद्धान्त ने धार्मिक विचारों को भी प्रभावित किया था। फलतः पश्चिम के वेदज्ञ पण्डित इस तथ्य को स्वीकार करने के लिये तैयार ही नहीं थे कि वेदों में एक अद्वितीय परमात्मा की उपासना का विधान है और वेद के धर्म को एकेश्वरवादी कहा जा सकता है। उनकी धारणा थी कि वेदकालीन आर्य सूर्य, नक्षत्र, वायु, जल, पृथ्वी आदि भौतिक पदार्थों को ही दैवी शक्तियां मान कर पूजते थे। प्राकृतिक जगत् के रहस्यों से पूर्ण परिचित न होने के कारण वे इन भौतिक चमत्कारों को देखकर आश्चर्यान्वित होते, तत् तत् पदार्थों को सम्बोधित कर प्रार्थनाएं निवेदित करते तथा उनकी प्रसन्नता के लिए नाना हवियां अर्पित करते। यही वेदों की बहुदेवोपासना है।

पाश्चात्यों की इस अवधारणा की पुष्टि में भी बहुत कुछ कहा जा सकता है। ऋग्वेद के मन्त्र निश्चित रूप से अग्नि, वायु, इन्द्र, सविता, पूषा, मरुत, रुद्र, विष्णु, बृहस्पति, प्रजापति, आपः, अश्विन्, वरुण, सोम, विश्वेदेवा, रात्रि तथा यम आदि देवताओं की स्तुति में लिखे गये हैं। आगे चलकर वेदों के इस बहुदेववाद को मैक्समूलर ने 'हीनोथीज्म' का नाम दिया, किन्तु समस्त वैदिक देवता एक ही परमात्मा के भिन्न-भिन्न नाम हैं अतः वेद वास्तव में एकेश्वरवाद की ही पुष्टि करते हैं, इस मत को पाश्चात्य विद्वानों ने दबे स्वर से स्वीकार करते हुए भी स्पष्ट रूप से कभी नहीं माना। वेद के धर्म के बारे में प्रो० मैकडानल का कथन है—It is essentially a Polytheistic religion which assumes a pantheistic colouring only in a few of its latest hymns. (A Vedic Reader for students : Introduction.) वेदों का धर्म मूलतः बहुदेववादी है किन्तु अन्त के सूक्तों में वहां सर्वेश्वरवाद भी झलकता है।

वस्तुतः पाश्चात्यों का वेदाध्ययन निम्न वादों का आधार लेकर चलता है—१. विकासवाद जिसकी चर्चा हम कर चुके हैं। २. तुलनात्मक भाषा-विज्ञान। ३. तुलनात्मक गाथा और धर्म। ४. आर्यों के सामाजिक जीवन विषयक निष्कर्ष जो वेदमन्त्रों पर आधारित हैं। तुलनात्मक भाषा विज्ञान ने वेदों के अध्ययन को एक नया आयाम दिया है। यूरोप की प्रमुख भाषाओं का संस्कृत तथा अन्य आर्य भाषाओं के साथ अध्ययन कर पश्चिम के वैदिक विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि संस्कृत भाषा ग्रीक से भी अधिक पूर्ण है, लैटिन से अधिक समृद्ध है तथा इन दोनों से अधिक परिष्कृत है। इस प्रकार लेटिन, ग्रीक तथा वैदिक संस्कृत में पाई जानेवाली अनेक समानताओं को स्वीकार कर ये भाषा वैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि ये तीनों भाषाएं किसी अन्य स्रोत से उत्पन्न हुई हैं जो आज विद्यमान नहीं है। भाषा विज्ञान के तत्त्व तो संस्कृत व्याकरण तथा निरुक्त आदि शास्त्रों में भी पाये जाते हैं इसलिये शब्द-विज्ञान, अर्थ-विज्ञान तथा ध्वनि विज्ञान के द्वारे वैदिक मन्त्रों का अर्थ करना कोई सर्वथा नवीन बात तो थी नहीं। भाषा-विज्ञान के अतिरेक ने विद्वानों को वैदिक शब्दावली में चाल्डिया जैसे मध्य एशियायी देशों की भाषाओं के शब्दों का पाया जाना सिद्ध करने की प्रेरणा दी। वस्तुतः यह उनके औचित्य-भ्रष्ट ज्ञान का विस्फोट ही था।

पश्चिमी विद्वानों ने वेदार्थ के लिए तुलनात्मक देवगाथा तथा तुलनात्मक धर्म का भी उपयोग किया। मुख्यतः उन्हें आर्यों के देवताओं तथा ग्रीक देवताओं में पर्याप्त साम्य दिखाई दिया। इसी प्रकार इण्डो यूरोपीय जातियों के रीति रिवाज, धार्मिक विश्वासों तथा सांस्कृतिक जीवन में

पाई जानेवाली समानताओं के आधार पर उन्होंने वैदिक आर्यों की जीवन-पद्धति के बारे में भी अनेक निष्कर्ष निकाले। परन्तु अध्ययन की यह पद्धति भी सर्वथा निर्दोष नहीं थी। निश्चय ही वेदों में जिस धर्म, समाज, संस्कृति तथा दर्शन का चित्रण हुआ है वह समग्रतः भारतीय परिवेश को ही अङ्कित करती है। आर्य मनीषियों ने जहां चारों वेदों का समन्वय दृष्टि से अध्ययन करते हुए उन में ज्ञान, कर्म, उपासना तथा विज्ञान की उपस्थिति मानी थी, वहां पाश्चात्य वेद व्याख्याकारों ने इन्हें खण्डित दृष्टि से देखा। उनके विचारानुसार ऋग्वेद का द्वितीय से लेकर नवम मण्डल तक अंश प्राचीन है जबकि प्रथम और दशम मण्डल अर्वाचीन तथा कालान्तर में सम्मिविष्ट हुए हैं। यजुर्वेद के कर्मकाण्ड प्रधानरूप को वे सर्वथा नवीन ही मानते हैं। सामवेद में तो ऋग्वेद के ही मन्त्रों की पुनरुक्ति हुई है। अथर्ववेद न केवल भाषा और भावों की दृष्टि से ही नया है अपितु उसमें जादू, टोना आदि अन्धविश्वासों को पुष्ट करनेवाले जो मन्त्र मिलते हैं, वे इसे सर्वथा नवीन तथा आर्यों से पूर्व के किन्हीं असभ्य लोगों के अन्धविश्वासपूर्ण कृत्यों का विधायक ग्रन्थ मानते हैं।

वस्तुतः पश्चिमी विद्वानों की वेदों की ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन करने में ही अधिक रुचि थी। उनके अनुसार वेदों के रचयिता आर्य ऋषि पश्चिमी सीमान्त से सप्तसिन्धु देश में प्रविष्ट हुए। यहां नदियों के किनारों पर उन्होंने अपने आश्रम बनाये। आर्य राजाओं ने अपने नगर, ग्राम तथा बस्तियां बसाईं। इस प्रदेश के मूल निवासी द्रविड़ आदि जातियों से उनका संघर्ष हुआ जिस में ये आर्य लोग विजयी हुए। जो आदिवासी जातियां आर्यों द्वारा पराजित की गईं उन्हें दस्यु तथा अनार्य नाम देकर हीन माना जाने लगा। इस प्रकार यूरोपीय विद्वानों ने आर्य और दस्यु शब्दों को, जो मूलतः गुणवाचक शब्द थे, नस्ल वाचक बना दिया और अपने विचार में विदेश से आये आर्यों और यहां के मूल निवासी दस्युओं के बीच शाश्वत शत्रुता के भावों को अङ्कित किया। इतना ही नहीं, वेद मन्त्रों में आये अनेक शब्दों के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थों की अवज्ञा कर इन विद्वानों ने अनेक राजाओं, व्यक्तियों और ऋषियों के कथानक मनमाने ढंग से कल्पित कर लिये बिना इस बात का विचार किये कि भारतीय इतिहास के उपलब्ध और तथ्यपूर्ण घटनाक्रम से उनकी कोई पुष्टि या सङ्गति भी होती है या नहीं। वस्तुतः आर्यों के खान-पान, आचार-व्यवहार, गृहस्थ जीवन, दाम्पत्य व्यवहार, सामाजिकता तथा जीवन के बहुविध पहलुओं का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के लिये ही वे वेदाध्ययन को उपयोगी समझते थे। वेदों में विद्यमान विराट् आध्यात्मिक अनुभूतियों, उदात्त दार्शनिक विचारों तथा मानव के उत्थान के लिए विवेचित सरोकारों से उन्हें कोई लेना देना नहीं था।

इस ऐतिहासिक अध्ययन की दृष्टि ने ही आर० टी० एच० ग्रिफिथ को यह कहने के लिये विवश किया—Some of the hymns being rather Indo European than Hindu and representing the condition of the Ayans before their final settement in India. (Rigveda vol. I preface) अर्थात् वेदों के कुछ सूक्त हिन्दू (भारतीय) होने की अपेक्षा इण्डोयूरोपियन अधिक हैं तथा आर्यों के भारत में बसने के पूर्व की स्थिति को बताते हैं।

इन पाश्चात्य विद्वानों के लिए वेदार्थ को जानने के लिये न तो ब्राह्मण ग्रन्थों की उपयोगिता

हैं और न निरुक्त शास्त्र की। वे तो इन्हें व्युत्पत्ति शास्त्र को गल्प से अधिक महत्त्व नहीं देते। ग्रिफिथ ने यही तो लिखा है—"As the authors of Brahmans were blinded by the theology, the authors of the still later Niruktas were deceived by etymological fictious." इसकी दृष्टि में ब्राह्मण ग्रन्थों के रचयिता (याज्ञवल्क्य आदि) तो धर्म विश्वासों से प्रवंचित हुए जब कि उत्तर काल के निरुक्तों में व्युत्पत्तियों की कल्पित क्रीड़ा मात्र है।

जब ग्रिफिथ जैसा वेदानुवादक ब्राह्मण तथा निरुक्त आदि वेदार्थ में सहायक तथा समुचित मार्गदर्शक ग्रन्थों के प्रति ऐसी अनर्थपूर्ण धारणा रखता है तो वह भारत की परम्परा प्राप्त वेदार्थ-प्रणाली की सार्थकता को कैसे अनुभव करेगा ? उसने तो यहां तक लिख दिया—The Indian method of inter pretation becomes in its whole essence an entirely false one, ouring to the prejudice with which it choses to conceive the ancient circumstances and ideas which have become quite strange to it.

अर्थात् वेदार्थ की भारतीय प्रणाली पूर्णतः गलत तथा भ्रान्तिपूर्ण है क्योंकि इस प्रणाली में भारतीय स्थितियों तथा विचारों को विशेष महत्त्व दिया जाता है जब कि वेदार्थ में इनका कोई महत्त्व नहीं है। आश्चर्य है कि ग्रिफिथ वेदार्थ करते समय भारतीय स्थितियों और विचारों को ध्यान में रखने को अनावश्यक मानते हैं, तो क्या देश, काल तथा परिस्थितियों की अवज्ञा करके ही किसी ग्रन्थ के कथ्य को ठीक प्रकार से समझा जा सकता है ?

इन्हीं पूर्वाग्रहयुक्त धारणाओं के कारण जब ये पाश्चात्य विद्वान् वेदार्थ करने में प्रवृत्त हुए तो उन्हें वैदिक सूक्तों में जहां थोड़े से उदात्त तथा महनीय विचार मिले तो यत्र-तत्र अनावश्यक, थकाने वाले तथा बोझिल रचनाएं भी दिखाई दीं—The hymns vary greatly in value, by the spendid productions of a divinely inspired, poet we find a large number of unimportant, tiresome and over burdened, compositions.

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि पाश्चात्य विद्वानों का वैदिक अनुशीलन हेतु किया गया श्रम स्तुत्य और श्लाघनीय तो है, किन्तु यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि इनके इस प्रभूत परिश्रम से भी वेदार्थ के स्पष्टीकरण में उल्लेखनीय सहायता नहीं मिलती। वेदार्थ यथार्थता तथा वैदिक कथ्य की गरिमा को स्फुट करने में इसका कोई उल्लेखनीय योगदान नहीं है। अनन्तकाल से भारतीय जनता वेद को अपना धर्मग्रन्थ मानती आई है तथा इसके आविर्भाव के पश्चात् मन्त्रार्थ को जानने के लिए ब्राह्मण, निरुक्त तथा अन्य वेदांगों की रचना हुई है। निश्चय ही ये ग्रन्थ वेदार्थ में सहायक हैं तथा मध्यकालीन भाष्यकारों ने अपनी बुद्धि और समझ के अनुसार इनसे सहायता भी ली है। पाश्चात्य वेदाभ्यासियों ने इन भारतीय वेदार्थ-स्रोतों की न केवल उपेक्षा ही की, अपितु उन्हें निरर्थक भी बताया। परिणाम यह हुआ कि मन्त्रों के शब्दार्थ को तो येन केन प्रकारेण वे लिख पाये, किन्तु उनके हार्द को समझने तथा स्फुट करने में वे असफल रहे। इसका नमूना प्रो०

मैकडानल के किये उन अर्थों में देखा जा सकता है जो उसने अपनी पुस्तक A Vedic Reader for students में विभिन्न सूक्तों की व्याख्या में प्रस्तुत किये हैं।

ऋग्वेद २।१२ के प्रथम मन्त्र का ऐसा ही अर्थ देखें– The ctiet wise god who as soon as born surpassed the gods in power before whose vehemence the two Works trembled by the reason of the greavness of his valour he, o men is India.